

# इस्लामी सत्यता

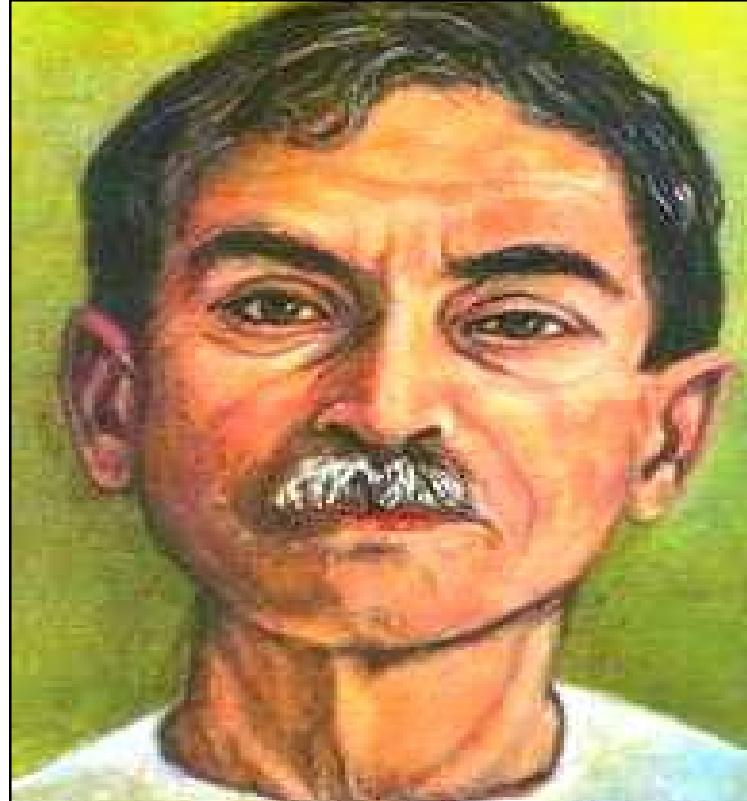
## मुंशी प्रेमचंद ( पुण्य तिथि, 8 अक्टूबर )

हिंदू और मुसलमान दोनों एक हजार वर्षों से हिंदुस्तान में रहते चले आये हैं। लेकिन अभी तक एक-दूसरे को समझ नहीं सके। हिंदू के लिए मुसलमान एक रहस्य है और मुसलमान के लिये हिंदू एक मुअम्मा (पहेली)। न हिंदू को इतनी फुर्ती है कि इस्लाम के तत्वों की छानबीन करे, न मुसलमान को इतना अवकाश है कि हिंदू-धर्म-तत्वों के सागर में गोते लगाये। दोनों एक दूसरे में बेसिर-पैर की बातों की कल्पना करके सिर-फुटोव्हल करने में आमाद रहते हैं।

हिंदू समझता है कि दुनियाभर की बुड़ाइयाँ मुसलमानों में भरी हुई हैं इनमें न दया है, न धर्म, न सदाचार, न संयम। मुसलमान समझता है कि हिंदू पथरों को पूजने वाला, गर्दन में धागा डालने वाला, माथा रंगने वाला पशु है। दोनों बड़े दलों में जो बड़े धर्माचार्य हैं, मानो द्वेष और विरोध ही उनके धर्म का प्रधान लक्षण है।

हम इस समय हिंदू-मुस्लिम-वैमनस्य पर कुछ नहीं कहना चाहते। केवल ये देखना चाहते हैं कि हिंदुओं की, मुसलमानों की सभ्यता के विषय में जो धारणा है, वह कहां तक न्यायी है।

जहां तक हम जानते हैं, किसी धर्म ने न्याय को इतनी महत्ता नहीं दी, जितनी इस्लाम ने दी है। इस्लाम धर्म की बुड़ाइद न्याय पर रखी गयी है। वहां राजा और रंक, अमीर और गरीब के लिए केवल एक न्याय



है। किसी के साथ रियायत नहीं, किसी का पक्षपात नहीं। ऐसी सैकड़ों रवायतें पेश की जा सकती हैं जहां बेकसों ने बड़े-बड़े बलशाली अधिकारियों के मुकाबले में न्याय

के बल पर विजय पायी है। ऐसी मिसालों की भी कमी नहीं है जहां बादशाहों ने अपने राजकुमार, अपनी बेग़म, यहां तक कि स्वयं को भी न्याय की बेदी पर होम कर

दिया।

हज़रत मोहम्मद ने धर्मोपदेशकों को इस्लाम का प्रचार करने के लिए देशांतरों में भेजते हुए उपदेश दिया था— जब लोग केवल सम्मान का था। अपनी जीविका चलाने के लिए खलीफा को भी दूसरों की भाँति मेहनत-मजदूरी करनी पड़ती थी। ऐसे-ऐसे महान् पुरुष, जो एक बड़े सामाजिक का संचालन करते थे, जिनके सामने बड़े-बड़े बादशाह अदब से सिर झुकाते थे, वे जूते सिलकर या कलमी किताबें नक़ल करके या लड़कों को पढ़ाकर अपनी जीविका अर्जित करते थे।

जिन दिनों इस्लाम का झँडा कटक से लेकर डेन्यूब तक और तुर्किस्तान से लेकर स्पेन तक फहराता था, मुसलमान बादशाहों की धार्मिक उदारता इतिहास में अपना सानी नहीं रखती थी। बड़े-बड़े राज्य-पदों पर गैर मुस्लिमों को नियुक्त करना तो साधारण बात थी।

महाविद्यालयों के कुलपति तक ईसाई और यहूदी होते थे। इस पद के लिए केवल योग्यता और विद्वता ही शर्त थी, धर्म से कोई संबंध नहीं था। प्रत्येक विद्यालय के द्वार पर ये शब्द खुदे होते थे— पृथ्वी का आधार केवल चार वस्तुएं हैं— बुद्धिमानों की विद्वता, सज्जनों की ईश प्रार्थना, वीरों का पराक्रम और शक्तिशालियों की न्यायशीलता।

मुहम्मद के सिवा संसार में और कौन धर्म प्रणेता हुआ है जिसने खुदा के सिवा किसी मनुष्य के सामने सिर झुकाना गुनाह ठहराया हो? मुहम्मद के बनाये हुए समाज में बादशाह का स्थान ही नहीं था। शासन का काम करने के लिए केवल एक खलीफा की व्यवस्था कर दी गयी थी, जिसे जाति

के कुछ प्रतिष्ठित लोग चुन लें। इस चुने हुए खलीफा को कोई बजीफ़ा, कोई वेतन, कोई जागीर, कोई रियासत न थी। यह पद केवल सम्मान का था। अपनी जीविका चलाने के लिए खलीफा को भी दूसरों की भाँति मेहनत-मजदूरी करनी पड़ती थी। ऐसे-ऐसे महान् पुरुष, जो एक बड़े सामाजिक का संचालन करते थे, जिनके सामने बड़े-बड़े बादशाह अदब से सिर झुकाते थे, वे जूते सिलकर या कलमी किताबें नक़ल करके या लड़कों को पढ़ाकर अपनी जीविका अर्जित करते थे।

हज़रत मुहम्मद ने स्वयं कभी पेशवाई का दावा नहीं किया, खज़ने में उनका हिस्सा भी वही था, जो एक मामूली सिपाही का था। मेहमानों के आ जाने के कारण कभी-कभी उनको कष्ट उठाना पड़ता था, घर की चीज़ें बेच डालनी पड़ती थीं। पर क्या मजाल कि अपना हिस्सा बढ़ाने का ख्याल कभी दिल में आए।

जब नमाज़ पढ़ते समय मेहतर अपने को शहर के बड़े-से-बड़े रईस के साथ एक ही कतर रखते हैं तो क्या उसके हृदय में गर्व की तरफ़ें न उठने लगती होंगी। इस्लामी सभ्यता को संसार में जो सफलता मिली वह इसी भाईचारे के भाव के कारण मिली है।

( प्रेमचंद का यह लेख सबसे पहले 1925 में 'प्रताप' में प्रकाशित हुआ था )

## मुंशी प्रेमचंद को एक फिल्म लिखने का ऑफर मिला फिल्म का नाम था ''मिल मजदूर''

ये प्रेमचंद की लिखी एक मात्र फिल्म है इतिहास की, प्रेमचंद को इस फिल्म के लिए उस समय 8000 रुपये मिले थे जो बहुत बड़ी रकम थी तब के हिसाब से 1934 में।

. प्रेमचंद ने ना केवल फिल्म लिखी थी बल्कि इसमें मजदूरों के नेता का एक छोटा सा रोल भी किया था। फिल्म बना रहा था अजंता प्रोडक्शन नाम का स्टूडियो।

फिल्म 1934 में बनकर तैयार हो गयी, प्रेमचंद इस दौर में मुंबई में ही रहे। 1934 से 1935 तक।

फिल्म की कहानी ये थी कि एक टेक्स्टाइल मिल का मालिक मर जाता है, और उसके बेटे को मिल चलाने के लिए मिल जाती है,

अब वो नए विचारों का लड़का होता है, और बिज़नेस की बढ़ोत्तरी के लिए इंसान को इंसान नहीं समझता होता है।

लोगों को निकालना उन्हें प्रताड़ित करना ये सब मिल में होने लग जाता है। फिल्म की हीरो उसकी बहन है, जो पिता को मिल चलाते देख रही थी मरने से पहले, वो मजदूरों के हकों के लिए खड़ी हो जाती है, उनसे हड़तालें करवाती है। एन्ड में भाई जेल जाता है, और लड़की मिल को वापस शुरू करती है।

अब फिल्म में लड़की का डायलाग बताते हैं की इतना असरदार था की उस से मुंबई जो उस समय टेक्स्टाइल का हब माना जाता था वहां मजदूरों की क्रांति होने लग गयी।

उस समय जिसने फिल्म देखी थी

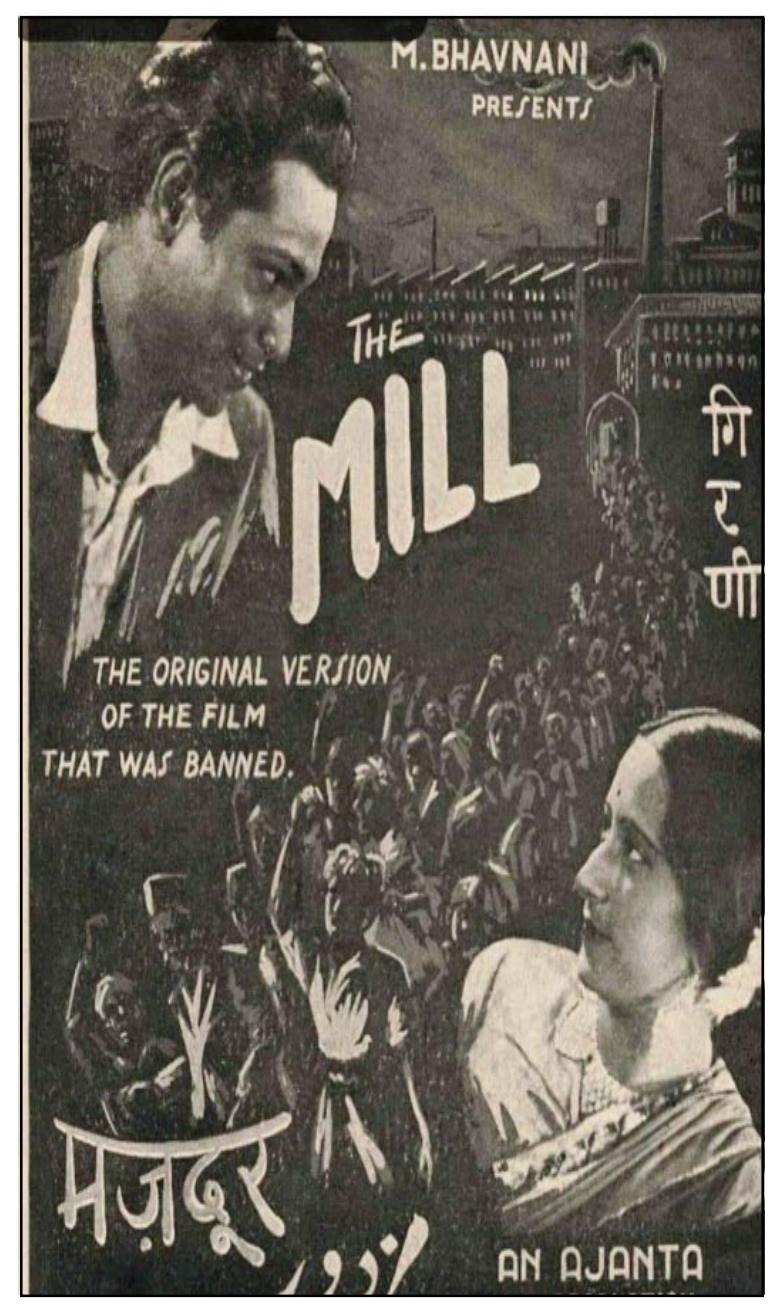
उसका कहना था की प्रेमचंद ने बेहतरीन फिल्म लिखी है। 1935 में फिल्म को रिलीज़ करने की मेहनत शुरू हुई। बोर्ड ने इसे बैन कर दिया, फिल्म को दुबारा नए नाम "सेठ की लड़की" से रिलीज़ करने की कोशिश की, लेकिन बिज़नेस लॉबी के बड़े बड़े बोर्ड ने इसे फिर बैन करवा दिया।

मिल मालिकों ने फिल्म सिनेमा हाल से हटवा दी। कई जगह जोर जबरदस्ती से। प्रेमचंद फिर मुंबई छोड़कर चले गए, उन्हें लगा की अब कोई फायदा नहीं है यहां रहने का। उन्होंने जाते हुए बयान दिया था की "शराब के धंधे की तरह ही फिल्म का धंधा भी बिज़नेस माफिया चलाता है, क्या दिखाना है क्या नहीं दिखाना सब वही तय करते हैं।"

और प्रेमचंद की बात सही भी थी। इंडस्ट्री उस समय बदहाली से गुजर रही थी, मजदूरों के हकों का कोई ख्याल नहीं रखा जा रहा था, 1929 के ग्रेट डिप्रेशन ने पूरी दुनिया के बिज़नेस को डब्बा कर रखा था। मजदूरों को तनखां नहीं मिल रही थी, भूखे मर रहे थे मजदूर, घर जाएँ कैसे उसके भी पैसे नहीं थे उनके पास!

. 1936 में फिल्म को कांट छांट के रिलीज़ किया गया "दया की देवी" नाम से। फिल्म इक्का दुक्का किसी ने देखी होगी।

फिल्म लाहौर, दिल्ली, और लखनऊ में रिलीज़ हुई थी, लेकिन



- साइबर नजर